ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor (RJIF): 8.4
IJAR 2023; 9(12): 214-216
www.allresearchjournal.com
Received: 20-10-2023
Accepted: 27-11-2023

डॉ० मुकुल शर्मा
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, श्री वेंकटेश्वर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author:
डॉ० मुकुल शर्मा
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, श्री वेंकटेश्वर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

हिंदी उपन्यासों में ग्राम-चित्रण (1960-1990)

डॉ० मुकुल शर्मा

प्रस्तावना

ग्राम-चेतना के साठोत्तर हिंदी उपन्यासों में निम्नलिखित सात उपन्यास विशेष रूप से चर्चित और महत्त्वपूर्ण हैं : 'आधा गाँव' (राही मासूम रज़ा, 1966), 'अलग-अलग वैतरणी' (शिवप्रसाद सिंह, 1967, इसके कुछ अंश पुस्तकाकार प्रकाशित होने से पूर्व 'धर्मयुग', 'सारिका' आदि पत्रिकाओं में छपे, इसका संक्षिप्त छात्र-संस्करण 'तटस्थ' नामक नई लेखकीय भूमिका के साथ 1975 में और चौथा संशोधित संस्करण नई लेखकीय फ़्लैप-टिप्पणी के साथ 1988 में छपा) 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल, रचना-काल : 1960-67, प्रकाशन : 1968), 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र, 1969), 'धरती धन न अपना' (जगदीशचंद्र, 1972, इसका संशोधित संस्करण 1983 में छपा), 'एक टुकड़ा इतिहास' (गोपाल उपाध्याय, 1975) और 'सोना माटी' (विवेकी राय, 1983)।

अपने पहले उपन्यास 'आधा गाँव' (1966) से ही ख्याति और विशेष चर्चा का विषय बन जाने वाले सुप्रतिष्ठित कथाकार राही मासूम रज़ा अपने लेखन में ही नहीं, बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी भारतीय पहले हैं और मुसलमान बाद में। उनके लिए भारतीयता आदमियत का पर्याय है। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण मुसलमानपरक होगा, वह कभी उर्दू का विरोध नहीं कर सकता, जबकि उन्होंने किया और इस बात के लिए उर्दू के यार-दोस्त सभी लट्ठ लेकर उनके पीछे भी पड़े। भारतीयता रज़ा के लिए कोई नारा नहीं, बल्कि एक रूहानी चीज़ है, जिसके बिना आदमी आदमी नहीं रहता। सच्चे अर्थों में धरती के बेटे रज़ा को हिंदुस्तान से भी ज़्यादा प्यार अपनी जन्मभूमि ग़ाज़ीपुर से है। उन्हीं के शब्द हैं, "दादा आजमगढ़ के थे, पर मैं ग़ाज़ीपुर का हूँ और ग़ाज़ीपुर का ही रहूँगा।"

'आधा गाँव' भोजपुरी-भाषी ग़ाज़ीपुर (पूर्वी उत्तर प्रदेश) ज़िले के गंगोली-निवासी शीआ मुसलमानों के जीवंत और बेपर्द जीवन-यथार्थ की कथा है। यह लेखक के गाँव गंगोली में 1935 से 1952 के बीच 'गुज़रने वाले समय की कहानी' है। इसमें मूलतः देश-विभाजन (पाकिस्तान के जन्म) और ज़मींदारी-उन्मूलन के समय उपर्युक्त मुसलमानों की विविध मनःस्थितियों, हिंदुओं के साथ उनके सहज आत्मीय संबंधों और द्वंद्वमूलक अनुभवों की सार्थक और प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई है। अपनी दो-टूक और धारदार शैली के लिए चर्चित इस सांप्रदायिकता-विरोधी उपन्यास में लेखक की मूल चिंता यह है कि "इधर कुछ दिनों से गंगोली में गंगोली-वालों की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों, शीओं और हिंदुओं की संख्या बढ़ती जा रही है।"[1] कथा-भूमि के रूप में लेखक ने पूरे गाँव को न लेकर उसके उस आधे मुस्लिम-बहुल टुकड़े को लिया है, जिससे वह सुपरिचित है। इसीलिए, उसने उपन्यास का नाम 'आधा गाँव' रखा है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के मुस्लिम जन-जीवन को लेखक ने, स्वयं को उस पर लादे बिना, जो उन्मुक्त गतिशीलता इस उपन्यास में दी है, वह किसी भी भारतीय भाषा में दुर्लभ है।

वैतरणी एक प्रसिद्ध पौराणिक नदी है, जो यमराज के द्वार पर स्थित मानी गई है। रुधिर, मज्जा, अस्थि और भीषण जीव-जंतुओं से भरी इस नदी का जल बहुत उष्ण, दुर्गन्धयुक्त तथा तीव्र प्रवाह वाला है। 'भागवत पुराण' के अनुसार, सती के वियोग में जो अश्रुधारा शिव के नेत्रों से बही, उसी से यह नदी बनी, जिसका विस्तार दो योजन तक माना गया है। कहते हैं, मृत्यु के बाद इसे पार करना होता है, जिसमें गोदान करने वाला व्यक्ति ही सफल होता है। पापी इसमें बहुत दिनों तक दुःख-भोग करते हैं, किंतु पुण्यात्मा इसे सहज ही पार कर जाते हैं। यह तो हुई इसकी पौराणिक व्याख्या, लेकिन समकालीन जीवन-यथार्थ का सजग द्रष्टा और भोक्ता रचनाकार जब इस पुराकथा को पढ़ता है तो उसे "हमेशा ही विक्षिप्त, बहिष्कृत, संत्रस्त और भीड़ के संगठित अन्याय के विरुद्ध जूझते शिव की याद आ जाती है" और लगता है कि "जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक़ छीने जाते हैं, सत्य और न्याय अवहेलित होते हैं, तब जन-जन के आँसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती है। नरक की नदी बन जाती है।"[2]

प्रेमचंद-परंपरा और स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के अग्रगण्य ग्राम-कथाकार शिवप्रसाद सिंह का बृहद् उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' (1967) इस कटु सत्य का ज्वलंत साक्षी है। मास्टर शशिकांत, डॉक्टर देवनाथ, विपिन, हरिजन-मुखिया सरूप भगत, जग्गन मिसिर, खलील मियां और पटनहिया भाभी इसी तिरस्कृत होते शिवत्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। गाँव की नई प्रगतिशील पीढ़ी भूतपूर्व ज़मींदारों, धर्म और समाज के साधन-संपन्न, रूढ़िग्रस्त ठेकेदारों और भ्रष्ट सरकारी पदाधिकारियों द्वारा निर्मित वैतरणी में किस तरह जूझ और छटपटा रही है, इसका बहुत सशक्त और विचारोत्तेजक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। यह मूलतः स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के टूटते हुए गाँव की दर्द-भरी कहानी है। वस्तुतः उत्तर प्रदेश के कैरता गाँव की पीड़ा समस्त भारतीय गाँवों की पीड़ा बन गई है। अपना उद्देश्य प्रकट करते हुए लेखक लिखता है, "'अलग-अलग वैतरणी' स्वतंत्रता के बाद के बीस वर्षों की यानी दो दशक की उस दारुण कथा को आपके सामने लाती है, जहाँ गाँव का पूरा कलेवर जर्जर होकर टूट-टूट कर बिखर रहा है। वे रिश्ते-नाते ख़त्म हो गए, वे संबंध खंडित हो गए, जहाँ अब हर इंसान अपनी-अपनी वैतरणी में डूबने-उतराने का अभिशाप लिए गाँव की वृहत् वैतरणी को अपनी स्याह ज़िंदगी से ढँकता चला जा रहा है। गाँव निरंतर शहरी संस्कृति की चरागाह बनते जा रहे हैं, जहाँ इकतरफ़ा निर्यात ही दिखाई पड़ता है, जहाँ सब कुछ मूल्यहीनता के गर्त में समाता जा रहा है, जहाँ का अंधकार इतना गाढ़ा हो चुका है कि उसको दूर करने के लिए प्रयत्न करने वाला स्वयं अंधघाटी में उतर जाने को विवश हो जाता है।"[3]

ग्राम-जीवन के अनन्य प्रेमी और उसे भारतीय जीवन की मूलधारा मानने वाले हिंदी के वरिष्ठ कथाकार श्रीलाल शुक्ल की कलम निस्संग व्यंग्यात्मकता से समकालीन सामाजिक यथार्थ को परत-दर-परत उघाड़ती रही है। उनका लोकप्रिय उपन्यास 'राग दरबारी' (1968) ग्रामीण जीवन का यथार्थवादी व्यंग्य-चित्र (Caricature) है, जिसके माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन में व्याप्त मूल्यहीनता और भ्रष्टाचार को अनावृत किया गया है। दरबारी संगीत का एक राग है, पर संगीत से इस उपन्यास का कुछ भी लेना-देना नहीं है। सांकेतिक अर्थ में, इसका राग उस दरबार का है, जिसमें हम देश की आज़ादी के बाद और उसके बावजूद, आहत-अपंग की तरह, डाल दिए गए हैं या पड़े हुए हैं।"[4] इसकी कथा-भूमि उत्तर प्रदेश के लखनऊ ज़िले का शिवपालगंज नामक एक ऐसा गाँव है, जहाँ की पंचायत, कॉलेज की प्रबंध-समिति और सहकारी समिति के सूत्रधार वैद्यजी साक्षात् उस राजनीतिक संस्कृति के पोषक हैं, जो स्वतंत्र भारत की प्रगति और विकास के समस्त नारों के बावजूद लोकतंत्र और लोकहित के नाम पर हमारे चारों ओर फल-फूल रही है। कथ्य को रूपायित करने वाली नई ग़ैर-रूमानी शैली के लिए विशेष रूप से चर्चित इस उपन्यास के विषय में कथाकार ने लिखा है कि "'राग दरबारी' लिखते हुए मेरे सामने दो ही विकल्प थे –या तो मैं उसे 'एन्ग्री यंगमैन' की मनःस्थिति में लिखता, जो कि मैं नहीं था या उसे सनीचर, रुप्पन बाबू, प्रिंसीपल, वैद्य जी आदि के साथ उठने-बैठने वाले पढ़े-लिखे गँवार की तरह लिखता, जो कि मैं था। तभी 'राग दरबारी' जिस तरह लिखा गया, उसके सिवाय मैं उसे किसी दूसरी तरह नहीं लिख सकता था।"[5]

पूर्वांचल को कथा-नायक बनाने वाले प्रेमचंद-परंपरा के रचनाकार रामदरश मिश्र ग्राम-जीवन के कुशल चितेरे हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में मुख्य रूप से ग्रामीण परिवेश को ही चित्रित किया है, क्योंकि उसे उन्होंने बचपन में आर-पार जिया है और वहाँ का समस्त बाहरी-भीतरी यथार्थ उनके अनुभव का अंग बन चुका है।[6] "मिश्र जी के व्यक्तित्व में कहीं कोई दीवार नहीं है। उन तक पहुँचना हर किसी के लिए सहज संभव है। उनका जीवन सहज जीवन है–धरती भेदकर फूटने वाला सहज जीवन, जिसमें भरपूर शक्ति और गति है। .... मिश्रजी की रचनाओं में अपने परिवेश के प्रति गहरा लगाव लक्षित होता है। परिवेशगत अनुभवों को उनकी मानवीय प्रगतिशील दृष्टि इस कलात्मकता से विन्यस्त करती है कि उनकी रचनाएँ बिना किसी बड़बोलेपन के सामान्य और अभिशप्त मानव-समाज का पक्षधर बन जाती है। यही उनकी रचनाओं की पहचान है और यही शक्ति भी।"[7] डॉ॰ विवेकी राय ने उन्हें गहन लोक-संपृक्ति और नए मूल्यों के अन्वेषण की छटपटाहट का कथाकार कहा है।[8] डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि "वे जिन पात्रों और घटनाओं से उपन्यास का ताना-बाना बुनते हैं, वे बहुत परिचित होते हैं। वे हमें अपनी असाधारणता या असामान्यता से चौंकाते नहीं, बल्कि अपनी विश्वसनीयता से हमें आकृष्ट करते हैं कि हम उनके साथ चलें, घूमें, उनकी ज़िंदगी में जो हो रहा है, उसे समझें-बूझें।"[9] डॉ॰ नरेन्द्र मोहन के विचार में "उनकी रचनाओं की धुरी है मनुष्य और केंद्रीय तत्त्व है मानवीय करुणा। ..... मनुष्य की तकलीफ़ उन्हें भीतर तक विचलित कर देती है और उनके संवेदना-तंत्र में खलबली मचा देती है। यह खलबली उन्हें सृजन के लिए .... प्रेरित करती है। ..... मनुष्य की चिंता की इस वैचारिक धुरी में से ही उनके साहित्य की मानवीय चेतना फूटी है और यही चेतना उन्हें मनुष्य के दुःख-दर्द के साथ गहराई से जोड़ती है और उन्हें मानवीय पीड़ा और अंतर्वेदना के विभिन्न धरातलों पर ले जाती है।"[10]

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में पूर्वी उत्तर प्रदेश के कछार अंचल की मिट्टी अपनी संपूर्ण बेचैनी, बेबसी, प्राकृतिक सुंदरता और भयावहता के साथ रूपायित हुई है। लेखक के कथनानुसार, "लगता है, मेरे भीतर सदा मेरा गाँव जीता रहा। वह गाँव कछार का गाँव है–दो नदियों के बीच घिरे हुए एक बहुत बड़े अंचल का एक गाँव। इस गाँव के सारे अभाव, विडंबना, अवमानना, प्राकृतिक प्रकोप के आघात और जिजीविषापूर्वक उनसे संघर्ष को मैंने देखा ही नहीं, जिया भी है। मेरे अनुभव में इस गाँव के माध्यम से सारे कछार की भयानक ग़रीबी और पीड़ा, सामूहिक उल्लासों के स्वर, प्रकृति के विविध रंग और गंध, तरह-तरह के अभिशप्त और उदास चेहरे बिंब बनकर पड़े हुए हैं। यही वजह है कि मेरे कथा-साहित्य की मुख्य भूमि यह कछार अंचल ही रहा है।"[11] साथ ही, मिश्र जी मानते हैं कि "गाँव अभी भी भारतीय जीवन-यथार्थ के प्रतिनिधि हैं, क्योंकि नगर, विशेषतया महानगर, भारतीय जीवन की जड़ों से अनिवार्य रूप से जुड़े हुए नहीं हैं, इसलिए चाहे अतीत और वर्तमान का अंतर्विरोध हो, चाहे वर्गों का अंतर्विरोध हो, चाहे जातियों का अंतर्विरोध हो, चाहे व्यक्ति के भीतर का अंतर्विरोध हो, जितना गाँव में दिखाई पड़ता है उतना नगरों में नहीं। गाँव का अंतर्विरोध अवधारणात्मक नहीं है, वह ठोस संदर्भों से मूर्त होता रहता है, इसलिए भारतीय जीवन-यथार्थ की सही और गहरी पहचान गाँव के संदर्भ में ही हो सकती है। .... गाँव का कथाकार गाँव की ज़िंदगी को आर-पार जीकर गाँव के और गाँव के माध्यम से इस देश के बुनियादी यथार्थ को पहचान लेता है, उसे अपने अनुभव में उतार लेता है।"[12]

स्वाधीनता मिलते ही पानी के प्राचीरों के साथ हमारी आशाएँ भी टूट जाती हैं। रामदरश मिश्र का दूसरा उपन्यास 'जल टूटता हुआ' (1969) इस कटु सत्य का ज्वलंत प्रमाण है। टूटता हुआ जल अपनी भयंकरता में स्वतंत्रता के सारे स्वप्नों और सुखों को बहा ले जाता है। "गाँव का तरल जल, संबंधों को अभिसिंचित करने वाला जल, जो व्यक्ति, परिवार, रिश्तेदार, गाँव-जवार और पूरे देश तक फैलता था, घड़ियालों द्वारा सोख लिया गया। आज़ादी मिलने के बाद पंद्रह वर्ष बीतते-न-बीतते भारत के गाँव अपना सब कुछ गंवा बैठे। उनकी आकांक्षाएँ आत्मघाती हो गईं, शहरी हो गईं। परिणाम, सतीश की पुरज़ोर कोशिशों के बावजूद गाँव टूटकर बिखर जाता है। इस प्रकार,

…. स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय गाँव के संबंधों तथा मूल्यों के तनाव, विघटन और उसके जीवन-संघर्षों एवं व्यथा की कथा है –'जल टूटता हुआ'। इसका भू-भाग वही कछार-अंचल है, जो 'पानी के प्राचीर'(1961) का है, किंतु समय की चेतना दोनों को अलगाती है। इनके पात्र, इनकी कथाएँ, इनकी चेतना और संरचना सभी अपने-अपने हैं। समय के फलक पर इन्हें एक भू-भाग का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है, किंतु अपनी-अपनी सत्ता में सर्वथा स्वतंत्र।"[13]

जगदीशचंद्र ग्रामीण अनुभव और संवेदना के धनी कथाकार हैं। उन्होंने जिस जीवन का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है, उसे बहुत ही निकट से देखा-परखा है। उनके उपन्यास अनुभूति की प्रामाणिकता और मानवीय संवेदना के धरातल पर पाठकों को आकृष्ट करते हैं। पंजाब के जन-जीवन पर जगदीशचंद्र की पकड़ उतनी ही गहरी है जितनी कि प्रेमचंद की उत्तर प्रदेश के जन-जीवन पर थी।"[14] उनका आग्रह जीवन की सीधी और प्रामाणिक पहचान का है। इस पहचान के ज़रिये ही वह मूल्यों की खोज की कोशिश करते हैं–पात्रों की आपसी बहस, विवाद और तर्कों के ज़रिये नहीं। उनकी सर्जनात्मक अंतर्दृष्टि ही उनके पात्रों की वैचारिकता का उत्स है, इसलिए संक्रमण के बीच जो मूल्य वहाँ उभरते हैं, वे सूचनाओं और टिप्पणियों के द्वारा नहीं, जीवन के अंकन के बीच से उभरते हैं।"[15] 'धरती धन न अपना' (1972) में लेखक ने पंजाब के एक छोटे-से गाँव को केंद्र में रखकर साधनहीन, भाग्यवादी, पराश्रित, निरक्षर और आर्थिक अभावों से ग्रस्त भूमिहीन हरिजनों के जीवन का एक ऐसा अंतरंग चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें, उनकी आशाएँ-आकांक्षाएँ, आचार-विचार, आस्थाएँ-परंपराएँ सभी कुछ अपनी समग्रता में मूर्तिमान हो उठा है। उपन्यास का कथ्य यह है कि सदियों से ज़ुल्म और शोषण की चक्की में पिस रहे हरिजन आज भी बर्बर मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं और जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस ज़मीन को वे जोतते हैं, यहाँ तक कि जिन छप्परों में वे रहते हैं, कुछ भी उनका अपना नहीं है। उपन्यास का कथा-फलक इतना विराट है कि ग्रामीण जीवन का कोई भी पक्ष उसमें अछूता नहीं रहा है। उसके पात्र पंजाब ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय ग्रामीण जीवन के प्रतिनिधि बन गए हैं।

'एक टुकड़ा इतिहास' (गोपाल उपाध्याय, 1975) उत्तर प्रदेश के पर्वतवासी दलित वर्ग के संघर्षमय जीवन के एक विशेष टुकड़े (1943-1956) का इतिहास है, जिसमें मुख्यतः इस वर्ग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन-यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। सर्वहारा वर्ग के जागरण, विकास और उद्धार को समर्पित नायिका चंदी देवी उर्फ़ चनुली की प्रेरक बलिदान-कथा इस उपन्यास का केंद्रीय कथा-सूत्र है। लेखक ने चनुली के माध्यम से अछूतों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है और इसे हिंदी में हरिजनों की संघर्ष-कथा की पहली और दलितों की यथास्थिति को अंकित करने वाले उपन्यासों से भिन्न कोटि की रचना कहा है। आलोचकों ने इसे 'महाभारत से भी बड़ी ट्रेजेडी और प्रेमचंद-परंपरा में यशपाल के बाद की नई कड़ी' की संज्ञा दी है।

विवेकी राय के उपन्यासों में पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों का जन-जीवन पूरी संश्लिष्टता में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी कृतियों में उभरा गाँव रेल की खिड़की से या सिनेमा के पर्दे पर देखा हुआ गाँव नहीं है। उनमें न केवल पास से देखे गए, अपितु पूरी तरह जिये हुए गाँव की तस्वीर है। गाँव-संबंधी श्री राय की अनुभव-संपदा एक ओर विस्तृत और बहुआयामी है, दूसरी ओर घनीभूत और संवेद्य भी।"[16] विवेकी राय गाँव में आस्थावादी जीवन-दृष्टि, सहज मानवीय लगाव और नैतिक मूल्यों की स्थापना को देखना चाहते हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में मौलिक ग्राम-गंध को अत्यंत आकर्षक शैली में उपस्थित किया है। उन्हें गाँव की गहरी समझ है और गाँव के प्रति उनके मन में अटूट लगाव है।

'सोना माटी' (विवेकी राय, 1993) नवें दशक का बहुचर्चित उपन्यास है, जिसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग़ाज़ीपुर और बलिया ज़िलों के मध्यवर्ती करइल अंचल को पृष्ठभूमि बनाकर वहाँ के जीवन-संघर्ष को चित्रित किया गया है। महुआरी गाँव का ईमानदार और संवेदनशील अध्यापक रामरूप (लेखक का प्रतिनिधि) अकेला ही कई मोर्चों पर हनुमानप्रसाद, दीनदयाल और भुवनेश्वर-जैसी गाँव की शोषक और प्रतिगामी शक्तियों से जूझता रहता है। लेखक कहना चाहता है कि इन राक्षसों के कारण ही करइल की सोने-जैसे मिट्टी आज नरक बन गई है। रामरूप की करुण नियति आधुनिक गाँव के अपंग, किंकर्त्तव्यविमूढ़ और समझौता-परस्त बुद्धिजीवी वर्ग का एक कटु सत्य है। राष्ट्रीय जीवन में आई विकृतियों ने भारतीय गाँवों को बुरी तरह विदीर्ण कर दिया है। 'सोना माटी' में साठोत्तर भारतीय ग्राम-जीवन में आए पतन, सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों में हुए ह्रास, राजनीतिक छल-छद्म, भ्रष्टाचार, ढोंग-पाखण्ड, गुण्डई, डकैती-तस्करी, अपहरण, अवैध संबंध आदि का यथार्थ एवं भावपूर्ण चित्रण हुआ है।

संदर्भ

1. राही मासूम रज़ा : 'आधा गाँव' (ऊँघता शहर), पृष्ठ-5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
2. शिवप्रसाद सिंह: 'अलग-अलग वैतरणी' (तट-चर्चा), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988
3. शिवप्रसाद सिंह : 'अलग-अलग वैतरणी' (तटस्थ, संक्षिप्त संस्करण, पृष्ठ-8, उपरिवत्
4. श्रीलाल शुक्ल : 'राग दरबारी' : संस्मरण (आधुनिक हिंदी उपन्यास - संपा॰ भीष्म साहनी, डॉ॰ रामजी मिश्र), पृष्ठ-242, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज प्रकाशन, दिल्ली, 1976
5. उपरिवत्, पृष्ठ-244
6. डॉ॰ रामदरश मिश्र : ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ (संपा॰ डॉ॰ सुभद्रा), पृष्ठ-148, अभिव्यंजना, नई दिल्ली, 1981
7. डॉ॰ नित्यानंद तिवारी, डॉ॰ ज्ञानचंद गुप्त : रचनाकार रामदरश मिश्र (दो शब्द), राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1990
8. डॉ॰ विवेकी राय : रचनाकार रामदरश मिश्र (संपा॰ डॉ॰ नित्यानंद तिवारी, डॉ॰ ज्ञानचंद गुप्त) पृष्ठ-123,उपरिवत्
9. डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी : रचनाकार रामदरश मिश्र (संपा॰ नित्यानंद तिवारी, ज्ञानचंद गुप्त) पृष्ठ-183,राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1990
10. डॉ॰ नरेन्द्र मोहन : रचनाकार रामदरश मिश्र, पृष्ठ-215-16, उपरिवत्
11. डॉ॰ रामदरश मिश्र : इकसठ कहानियाँ, (भूमिका), पृष्ठ-10, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1984
12. डॉ॰ रामदरश मिश्र : साक्षात्कार ('रचनाकार रामदरश मिश्र' में संकलित), पृष्ठ-318-19, उपरिवत् (संदर्भ-9)
13. रामदरश मिश्र, 'जल टूटता हआ' (यह उपन्यास .... प्रथम संस्करण), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1988
14. डॉ॰ इंद्रनाथ मदान : समकालीन साहित्य : एक नई दृष्टि, पृष्ठ-107, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1977
15. मधुरेश: सम्प्रति, पृष्ठ-36, धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1983
16. डॉ॰ वेदप्रकाश अमिताभ : हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष (संपा॰ डॉ॰ रामदरश मिश्र), पृष्ठ-386, गिरनार प्रकाशन, महेसाना, 1984